प्रकरण :४

संगीत में रस के स्थान का वास्तविक मूल्यांकन

४.१ : संगीत में रसानुभूति और रसाभिव्यक्ति ।

४.२ : संगीत के दौरान रस-हानि और उसके कारण ।

४ .१ : संगीत में रसानुभूति और रसाभिव्यक्ति

अन्य सभी ललित कलाओं की तरह संगीत का कार्य भी रस-निर्मिति है। रसात्मकता ही संगीत का प्राण है और रसमय वातावरण की सृष्टि करना ही संगीत का मूलभूत उद्देश्य, लक्ष्य है। किसी भी कला के आकर्षक रसात्मक स्वरूप के लिए मूलतः दो पक्ष जिम्मेवार है। एक है तकनिकी या कला पक्ष और दूसरा भाव पक्ष। ये दोनों ही रसात्मकता के पोषक हैं। संगीत कला के लिए भी यही बात उपयुक्त है। कला पक्ष संगीत के बाह्य भाग को, मानो शरीर को अलंकृत करता है, जबकि भाव पक्ष उसके आंतरिक घटक को, मानो आत्मा को शोभा प्रदान करता है। भाव कला के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

कला-निर्मिति के उपरोक्त दोनों पहलुओं में से तकनिकी पक्ष शिक्षा, चिंतन एवं रियाज़ से आकार लेता है, जबकि भाव पक्ष कलाकार के विभिन्न अनुभव एवं अनुभूति से निर्मित होता है। कलाकार की अनुभूति की कला (सौन्दर्य) मय प्रस्तुति/अभिव्यक्ति को ही भावाभिव्यक्ति/रसाभिव्यक्ति कहा गया है, जो रसिक को भी भाव/रस की अनुभूति करवाती है। रसिक की अनुभूति का प्रभाव कलाकार पर भी होता है, जो उसकी अगली अभिव्यक्ति में कुछ न कुछ योगदान देता है। (रसिक द्वारा 'वह' सुनने पर कलाकार को ज्ञात होगा, कि उसे कृति या क्रिया पसंद आई और वह उसे दोहराएगा, यही इस बात का प्रमाण है।)

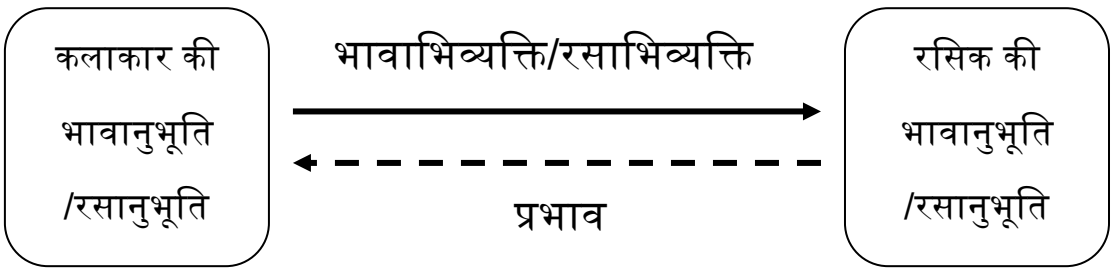

जब कलाकार स्वयं रसानुभूति में लीन होकर प्रस्तुति करता है, तब स्वाभाविक रूप से समस्त रसिक गण रसमग्न हो जाते हैं। समग्र वातावरण रसमय हो जाता है। जन-समुदाय स्वयं को भूलकर समान आनंदानुभूति में डूब जाता है। यही रस परिपाक की चरम परिणति है।

यह सिद्ध हुआ है, कि संगीत से रसाभिव्यक्ति करने में ध्वनि-वैचित्र्य विशेष सहायक होता है। रस-निष्पत्ति में ध्वनि-वैचित्र्य का विशेष योगदान है। संगीत के कला पक्ष के ऐसे कई तत्त्व हैं, जो भाव पक्ष की सटीक अभिव्यक्ति के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।[१]

'राग विबोध' मैं लिखा गया है, कि बिना अलंकरण के स्वर-समुदाय चंद्र-रहित रात्रि, जल-रहित नदी, पुष्प-रहित लता तथा श्रृंगार-रहित स्त्री जैसा है। तात्पर्य यह है, कि अलंकरण ही स्वर-समुदाय में सौंदर्य एवं प्राण का संचार करता है।

अगले प्रकरण में मूलभूत सांगीतिक घटकों से रस के संबंध पर विश्लेषणात्मक चर्चा की गई। उसके पश्चात, यहाँ कुछ सूक्ष्म अलंकारी तत्त्वों के विषय में चर्चा प्रस्तुत है, जो संगीत में रसाभिव्यक्ति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन तत्त्वों का सैद्धांतिक विश्लेषण शास्त्रीय संगीत में ही किया गया है, परंतु उनका क्रियात्मक उपयोग लोक संगीत, सुगम संगीत, इत्यादि में भी हुआ है। वास्तव में इन्हीं तत्वों के प्रयोग से सांगीतिक घटकों का संगीत कला में रूपांतरण होता है। इन सूक्ष्म अलंकारी तत्त्वों का परिचय एवं रसाभिव्यक्ति तथा रसानुभूति से संबंध का विश्लेषण यहाँ दिया गया है।

- **मींड :**

अस्खलित ध्वनि एवं सातत्य के साथ एक स्वर से अन्य स्वर तक जाने की क्रिया को 'मींड' कहा गया है। मींड भारतीय संगीत का विशिष्ट अंग है, जो गांभीर्ययुक्त माधुर्य का अनुभव करवाता है। मींड ऐसी क्रिया है जो समग्रता की

अनुभूति देती है। आरंभ के स्वर से अंतिम स्वर तक पहुंचते वक्त बीच के स्वरों का समावेशन इस अनुभूति का कारण है। गंभीर प्रकृति के रागों में इसका प्रयोग अधिक प्रमाण में किया गया है। विभिन्न रागों के विभिन्न स्वर एवं स्वर समुदायों में मींड का प्रयोग विभिन्न रस का पोषक सिद्ध होता है। अल्हैया बिलावल में 'ध़ि ग' संगति में मृदुता से मींड का प्रयोग वात्सल्य रस की, शुद्ध कल्याण में 'प ग', 'सां ध़ि' संगति में मींड का प्रयोग शांत रस की, श्री में 'रे प' संगति में दृढ़तायुक्त मींड का प्रयोग वीर रस की अभिव्यक्ति का साधन एवं अनुभूति का कारण बनता है।

- **सुत :**

'गज' या 'बो' का उपयोग करके बजाए जानेवाले, अर्थात् वितत् वाद्यों में मींड जैसी क्रिया को 'सूत' कहा गया है। रसाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति में उसका प्रयोग एवं स्थान मींड की भाँति ही माना जाता है।

- **आंदोलन :**

स्वरों के मृदु कंपन को 'आंदोलन' कहा गया है। अधिकांश गंभीर प्रकृति के रागों में प्रयुक्त होता है। गांभीर्ययुक्त है। उसमें आंदोलित (मुख्य) स्वर को वास्तव में उसके नज़दीकी स्वर से मृदुता से (बिना झटके के) बार-बार छुआ जाता है। विभिन्न रागों के विभिन्न आंदोलित स्वर विभिन्न रस के पोषक सिद्ध होते हैं। भैरव में 'रे' या 'ध़' पर आंदोलन का प्रयोग भक्ति एवं शांत रस की, दरबारी कानड़ा में 'ग' या 'ध़' पर आंदोलन का प्रयोग वीर एवं शांत रस की अभिव्यक्ति का साधन एवं अनुभूति का कारण बनता है।

- **गमक :**

स्वरों के दृढ़तापूर्ण, हृदय से ताक़त लगाकर किए जाने वाले कंपन को 'गमक' कहा गया है। स्वर के साथ उसकी या नज़दीकी स्वर की श्रुतियों की छाया इस क्रिया में दृश्यमान होती है। गमक भारतीय संगीत का विशिष्ट अंग है, जो गांभीर्ययुक्त माधुर्य का, गहनता - गहराई - का अनुभव करवाता है। इसका प्रयोग गंभीर प्रकृति के रागों में ही किया जाता है, चंचल प्रकृति के रागों में टाला जाता है। विभिन्न रागों के विभिन्न स्वर एवं समुदाय में गमक का प्रयोग विभिन्न रस का पोषक सिद्ध होता है। तोड़ी के 'ग' पर गमक का प्रयोग करुण रस की, मालकौंस के 'ग', 'ध' पर गमक का प्रयोग वीर एवं शांत रस की, भैरव के 'ग', 'नि' पर गमक का प्रयोग भक्ति रस की अभिव्यक्ति का साधन एवं अनुभूति का कारण बनता है।

- **कण :**

किसी स्वर को गाते या बजाते समय अन्य स्वर का उसे स्पर्श देने की क्रिया को 'कण' कहा गया है। कण स्वरों को भावपूर्ण स्वरूप प्रदान करता है, शुष्कता को लवचीकता में परिवर्तित करता है। इसका प्रयोग गंभीर एवं चंचल दोनों प्रकृति के रागों में दृश्यमान होता है। विभिन्न रागों के विभिन्न स्वर एवं स्वर समुदाय में कण का प्रयोग विभिन्न रस का पोषक सिद्ध होता है। शहाना में 'साध' में 'ध' पर 'सा' का कण वीर रस की, केदार में 'साम' में 'म' पर 'सा' का कण शांत रस की अभिव्यक्ति का साधन एवं अनुभूति का कारण बनता है।

- **क्रिन्तन :**

'मिज़राब' या 'स्ट्रोकर' का उपयोग कर के बजाए जाने वाले अर्थात् 'तत्' वाद्यों में किसी स्वर बजते समय पहले मिज़राब के स्ट्रोक के बाद ऊपर के नज़दीकी स्वर का खटकायुक्त कण सिर्फ बाएँ हाथ की उँगली से लिया जाए, उसे 'क्रिन्तन' कहा

गया है। रसाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति में इसका प्रयोग एवं स्थान कण एवं खटका की भाँति ही माना गया है। चंचल प्रकृति के रागों में इसका प्रयोग अधिक प्रमाण में होता है।

- **जमजमा :**

'मिज़राब' या 'स्ट्रोकर' का उपयोग कर के बजाए जाने वाले अर्थात् 'तत्' वाद्यों मे किसी स्वर मिज़राब के स्ट्रोक के बाद ऊपर के नज़दीकी स्वर का खटकायुक्त कण सिर्फ बाएँ हाथ की उंगली से लिया जाए, उसे 'जमजमा' कहा गया है। रसाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति में उसका प्रयोग एवं स्थान कण एवं खटका की भांति ही माना जाता है इसका प्रयोग गंभीर एवं चंचल दोनों प्रकृति के रागों में दृश्यमान होता है।

- **मुरकी :**

अत्यंत शीघ्रता से तीन-चार स्वरों का एक साथ प्रयोग 'मुरकी' कहा गया है। मुरकी चांचल्य चांचल्ययुक्त माधुर्य का अनुभव करवाती है। इसका प्रयोग अधिकांश चंचल प्रकृति के रागों में होता है। विभिन्न रागो की विभिन्न स्वर-समुदाय में मुरकी का प्रयोग विभिन्न रस का पोषक चिन्ह होता है। काफी में 'रेगमपु', मधुवंती में 'पम'गम'प', श्रृंगार रस की, देशकार में 'गपधसांध' शांत रस की, अभिव्यक्ति का साधन एवं अनुभूति का कारण बनता है।

- **स्वरित :**

स्वरित अर्थात् 'षड्ज', जिसे राग संगीत का आधार स्वर माना गया है। वह कभी भी वर्ज्य नहीं किया जाता। राग गान के समय या स्वर साधना के समय भी तानपुरे के द्वारा स्वरित की गूँज पृष्ठभूमि के रूप में बनी रहती है, जो राग-सौन्दर्य का

आधार बनती है। राग में लगने वाले स्वरों की स्थिति का ज्ञान स्वरित के आधार पर होता है। अत्याधिक स्वरावलिओं की शुरुआत एवं समापन इसी स्वर से करने का चलन है। भारतीय संगीत में रसाभिव्यक्ति एवं उसके माध्यम से रसानुभूति में स्वरित का महत्त्व अनन्य माना ज्ञा है, उसे अनिवार्य माना गया है। चाहे राग किसी भी रस का पोषक हो।

- **स्थाय :**

राग के छोटे-छोटे स्वर समुदायों को 'स्थाय' कहा गया है। वह राग का महत्त्वपूर्ण अंग है, जो उसे अन्य रगों से भिन्न स्वरूप प्रदान करता है। वास्तव में सिर्फ एक-एक स्वर गाने या बजाने से राग निर्माण नहीं होता, न ही कोई रस उत्पन्न हो सकता है। वह स्थाय ही है, जो राग को उसका विशिष्ट स्वरूप प्रदान करके विभिन्न रस की अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं, अनुभूति का कारण बनते हैं।

- **सप्तक :**

आधार स्वर 'सा' से दुगुनी ऊंचाई पर स्थित, दूसरे 'सां' तक के अंतराल को 'सप्तक' कहा गया है। उसके मंद्र, मध्य तथा तार प्रकार माने गए हैं। प्रत्येक राग में कौन से (एक, दो, तीन) सप्तक में अधिक विस्तार किया जाए वह निश्चित होता है, जिसके अनुसार राग सौन्दर्य खिलता है। मोटे तौर पर ऐसा कहा जा सकता है, कि गंभीर प्रकृति के रागों का चलन मंद्र एवं मध्य सप्तक में तथा चंचल प्रकृति के रागों का चलन मध्य एवं तार सप्तक में अधिक होता है। समान स्वरों (चलन एवं) सप्तक के तफ़ावत से राग-स्वभाव, रस भिन्न हो जाता है। जैसे, भूपाली और देशकार, दरबारी कानडा और अडाणा, मारवा-पुरिया और सोहिनी, इत्यादि। शांत रस मंद्र सप्तक में, श्रुंगार रस मध्य सप्तक में, रौद्र रस तार सप्तक में स्वाभाविक रूप से अनुभव हो

सकता है। अतः विभिन्न सप्तक का प्रयोग विभिन्न रस कि अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है, अनुभूति का कारण बनता है।

- **संवाद :**

भारतीय संगीत में दो स्वरों के सुमधुर सायुज्य को संवाद कहा गया है। भारतीय संगीत में भरत के समय से ही संवाद तत्व का महत्व रहा है। उसे संगीत का आधार माना गया है। तानपूरे या सितार जैसे वाद्य में षड्ज-षड्ज संवाद भाव, षड्ज-पंचम संवाद भाव, षड्ज-मध्यम संवाद भाव, षड्ज-गांधार संवाद भाव, षड्ज-निषाद संवाद भाव, इत्यादि पृष्ठभूमि में सतत दृश्यमान होते हैं, जिन्हें राग में सौन्दर्य वृद्धि का कारण माना गया है। संवाद भाव से राग के स्वर मधुर, रागोचित सौन्दर्य गुणों से युक्त होकर मानव मन को आनंद की अनुभूति करवाते हैं। षड्ज-पंचम एवं षड्ज-मध्यम भाव के सौन्दर्य में परस्पर वैशिष्ट्य है। षड्ज-पंचम में मिला तानपूरा अचानक षड्ज-मध्यम में करने से माधुर्य की अनुभूति में होने वाला परिवर्तन इसका प्रमाण है।

- **काकु :**

एक ही शब्द का उच्चारण विभिन्न तरीके से किया जाए, जो विभिन्न भाव का बोध करवाए, उसे काकु कहा गया है। 'काकु' सँग की उत्पत्ति 'कक्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है ध्वनि का लचीलापन। 'अमरकोष' के अनुसार ध्वनि के उस विकार को 'काकु' कहते हैं, जिसके द्वारा किसी भाव की अभिव्यक्ति हो। वास्तव में काकु के अंदर एक विचित्र शक्ति है, जिसके द्वारा भावों की अभिव्यंजना में स्निग्धता, माधुर्य और रस की सृष्टि होती है। काकु का प्रयोग वाचिक अभिनय में बताया गया है। स्वरों के ऊँचे-नीचेपन, उतार-चढ़ाव, द्रुत-विलंबित, विराम-अल्पविराम-पूर्णविराम, ध्वनि का माधुर्य या कर्कशता, इत्यादि के माध्यम से की जाने वाली विभिन्न भाव/रस

अभिव्यक्ति इसके अंतर्गत समाविष्ट हैं। स्वर काकु (स्वरों में श्रुति-भेद दर्शाना), राग काकु (राग वाचक स्वर समुदाय दर्शाना), अन्य राग काकु (एक राग में दूसरे राग की छाया दर्शाना), देश काकु (विशिष्ट प्रादेशिक संगीत दर्शाना), क्षेत्र काकु (आवाज़ का भारी-बारीकपन, स्त्री-पुरुष लक्षण), यंत्र काकु (वाद्य के विशिष्ट ध्वनि लक्षण), इत्यादि काकु के प्रकार हैं। काकु गायन एवं वादन क्रिया में प्रत्यक्ष तथा नर्तन क्रिया में परोक्ष रूप से भावाभिव्यक्ति का अत्यंत महत्त्वपूर्ण माध्यम तथा भावानुभूति का कारण है। किसी बंदिश का एक शब्द 'सैंया' अनेक ढंग से गाया जा सकता है, जो विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति करता है। पंडित ओमकारनाथ जी ने 'जोगी मत जा' रचना में विविध तरीके से काकु-प्रयोग किया है। ठुमरी में बोल-बनाव की क्रिया काकु का उत्कृष्ट उदाहरण है। पाश्चात्य संगीत में काकु-प्रयोग विपुल प्रमाण में पाया जाता है। Intonation, Modulation, Inflection, Accent, Articulation, इत्यादि उसके उदाहरण हैं।

- **वर्ण :**

स्वर-प्रयोग की क्रिया के विभिन्न तरीकों को वर्ण कहा गया है। स्थायी (एक ही स्वर का प्रयोग), आरोही (स्वर का चढ़ते क्रम में प्रयोग), अवरोही (स्वर का उतरते क्रम में प्रयोग) तथा संचारी (उपरोक्त प्रकारों का मिश्रण) उसके विभिन्न प्रकार हैं। वर्णों के आधार पर राग के भाव को उजागर करने वाले अनेक स्वर-समूह बनते हैं, वर्ण द्वारा ही आलाप, तान, बंदिश, आदि को सजाया जाता है। वर्णों के उचित प्रयोग से राग सौन्दर्य निखर उठता है।

- **अलंकार :**

आधुनिक भारतीय संगीत में नियमित एवं अनुक्रमिक विशिष्ट स्वर रचना को 'अलंकार' कहा गया है। शाब्दिक अर्थ की तरह उसका कार्य भी संगीत को अलंकृत

करना माना गया है। अलंकार रचना वर्ण पर ही निर्भर है। अलंकार के उचित प्रयोग से आलाप, तान, बंदिश, के परिणाम स्वरूप राग के सौन्दर्य में वृद्धि होती है। प्राचीन समय में मींड़, गमक, कण, खटका, मुरकी, इत्यादि सौन्दर्यवर्धक तत्त्वों के लिए 'अलंकार' संज्ञा प्रयुक्त होती थी। भरत ने नाद एवं लय के वैचित्र्य से संबंधित अलंकार को रस एवं भाव आधारित माना है। संगीत शास्त्र में वर्णित अलंकार के उपरांत साहित्य शास्त्र में वर्णित अलंकार का भी संगीत की गायन एवं नर्तन विधा में उपयोग हुआ है। जैसे "अरी एरी आली पिया बिन, सखी कलन परत मोहे घरी पल छिन दिन" में प्रसानुप्रास अलंकार है; "अब मोरी नैया पार करो रे" में रुपक अलंकार है; "राधिका तिहारे नैन श्याम रंग घोले, अंजन बिन खंजन मृग मीन जलज डोले" में प्रसानुप्रास एवं उपमा अलंकार है; "जाओ सौतन घर, जासे लागे नैनवा" वक्रोक्ति अलंकार है, इत्यादि। बिना अलंकार के साहित्य भी कला न रहते हुए सिर्फ भाषा बनी रहती है, जिसका प्रमाण संगीत कला की बंदिशों से भी मिलता है। रसाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति में अलंकार अत्यंत महत्त्वपूर्ण माध्यम एवं कारण हैं।

- **बंदिश :**

'बंदिश' का शाब्दिक अर्थ है, बँधा हुआ। ताल में निबद्ध राग की निश्चित रचना को 'बंदिश' कहा गया है। शब्द-साहित्य भी इसका महत्त्वपूर्ण अंग है। भारतीय संगीत में बंदिश को एक निश्चित ढाँचा-फ्रेम की तरह मानते हुए उसका राग के साथ विस्तार किया जाता है, अतः राग के माध्यम से उजागर होने वाले रस तत्त्व में बंदिशें बहुत ज्यादा एहमियत रखती हैं। बंदिश के रचनाकार की कल्पना, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने वाले कलाकार की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति को उजागर करती है, सहायक बनती हैं। बंदशें एक ही राग में होने के बावजूद भिन्न-भिन्न रूप की होने से विभिन्न भाव, रस की निर्मिति करती हैं। हर बंदिश का अपना मिजाज रहता है। हर वक्त उसे शब्दों में बयाँ करना संभव नहीं होता, उनमें निहित सूक्ष्म भावों को अनुभव

करके उसे पेश करने से बंदिश के साथ राग का सौन्दर्य खिल उठता है। राग से रसाभिव्यक्ति करने के लिए बंदिश की सुयोग्य प्रस्तुति अत्यंत महत्वपूर्ण मानी गई है। गुरुओं ने बंदिशों के माध्यम से संगीतिक धरोहर को शिष्यों को सौंपकर उसे पीढ़ी दर पीढ़ी कायम किया है। घरानों का निजी सौन्दर्य बंदिशों में दृश्यमान होता है। पहले के गुरुओं ने शिष्यों को एक ही राग में कई बंदिशें सिखाना पसंद किया, क्योंकि विविध बंदिशों में राग-रूप के विविध पहलू समाविष्ट होते हैं। बंदिशों में समयांतर से बदला हुआ राग स्वरूप भी दृष्टिगोचर होता है। साहित्य पक्ष बंदिश के भाव-रस को अत्याधिक स्पष्ट स्वरूप - अर्थ - प्रदान करता है। एक ही राग में विभिन्न रस की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति बंदिश के वैविध्यपूर्ण साहित्य को विशेष आभारी है। बिहाग में "सब सखियाँ चालो प्रभु के दर्शन" भक्ति रस को, तो "लट उलझी सुलझा जा बालम" श्रुंगार रस की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति करवाती है। मालकौंस में "पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे" भक्ति रस की, तो "मुख मोर मोर मुसकात जात" श्रुंगार रस की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति करवाती है। रसानुभूति तथा रसाभिव्यक्ति में बंदिशों का योगदान अनन्य है।

- **आलाप :**

विलंबित या मध्य लय में राग के स्वभाव एवं चलन के मुताबिक किया जाने वाला स्वरों का विस्तार 'आलाप' कहा गया है। भारतीय संगीत में भाव प्रदर्शन तथा राग की सटीक प्रस्तुति के लिए आलाप को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। प्रस्तुति को भावपूर्ण बनाने के लिए आलाप अनिवार्य अंग है, भाव प्रधान है। सरगम से आलाप, आकार से आलाप, बोल आलाप, नोम-तोम, इत्यादि आलाप के विभिन्न प्रकार हैं और प्रत्येक का निजी सौन्दर्य है। बंदिश की तरह निश्चित न होते हुए उपज प्रधान होने से उसमें कलाकार को निजी भावों को, विचारों को, कल्पना को अभिव्यक्त करने की तक अत्याधिक प्रमाण में है। अलाप बंदिशों को अधिक गहनता

प्रदान करते हैं। बोल आलाप बंदिश के ही शब्दों की वैविध्य एवं बेहलावपूर्ण अभिव्यक्ति होने से बंदिश द्वारा निर्मित रस को अत्याधिक गहन एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। परम शांति का मार्ग हैं। भारतीय संगीत में रसानुभूति तथा रसाभिव्यक्ति के लिए आलाप अनिवार्यतः आवश्यक है।

- **तान :**

मध्य या द्रुत लय में राग के स्वभाव एवं चलन के मुताबिक की जाने वाली विविध स्वर-गुंफन रचना 'तान' कही गई है। तान का प्रयोग राग की आकृति स्पष्ट करते हुए ओजसपूर्ण सौन्दर्य निष्पन्न करता है। प्रस्तुति को दमदार, जोमपूर्ण बनाने में तान अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। सरगम से तान, आकार से तान, बोल तान, सपाट तान, वक्र तान, गमक की तान, इत्यादि तान के विभिन्न प्रकार हैं और प्रत्येक का निजी सौन्दर्य है। तान बंदिश की तरह निश्चित न होते हुए उपज प्रधान होने से उसमें कलाकार को निजी भावों को, विचारों को, कल्पना को अभिव्यक्त करने की तक अत्याधिक प्रमाण में है। तान बंदिश को अधिक चमत्कृति प्रदान करती है। बोल तान बंदिश के ही शब्दों की वैविध्य एवं ताजगीपूर्ण अभिव्यक्ति होने से बंदिश द्वारा निर्मित रस को अत्याधिक आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण बनाती है। अपने वैचित्र्यपूर्ण, चमत्कारी अंदाज़ के कारण भारतीय संगीत में रसानुभूति तथा रसाभिव्यक्ति के लिए तान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

- **विश्रान्ति :**

संगीत के दौरान आंशिक या पूर्णतः रुकने की क्रिया को 'विश्रान्ति' कहा गया है। रसाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति में विश्रान्ति का अपना विशिष्ट स्थान है। वर्णित प्रसंग के अनुसार अचानक विश्रान्ति शांत, भयानक, करुण, इत्यादि रस की अभिव्यक्ति का माध्यम एवं अनुभूति का कारण बनती है। भारतीय संगीत का हार्द है

आत्मा की परितृप्ति, जो कभी-कभी पूर्ण शांति, चुपकीदी में प्राप्त हो जाती है। अतः कभी-कभी संगीत का कार्य रस की अनुभूति की चरमसीमा के बाद पूर्ण हो जाता है, उसके बाद की परम शांति आत्मानुभूति का बाकी का सफर तय करवाती है। बड़े, गुणी कलाकार अक्सर कहते हैं, कि संगीत स्वरों में नहीं, बल्कि उनके बीच में निहित शांति में है। कभी-कभी संगीत प्रस्तुति इतनी प्रभावपूर्ण, रसविभोर कर देने वाली होती है, कि कलाकार एवं रसिक, दोनों उसकी पूर्णाहुति के बाद तालियों की गड़गड़ाहट के स्थान पर आत्मविभोर करने / रखने वाली शांति पसंद करते हैं। विश्रान्ति का तात्पर्य न्यास से भी है। विभिन्न रागों में विभिन्न स्वरों पर न्यास विविध रस के पोषक हैं। यही विश्रान्ति का महत्त्व है।

- **शैली :**

किसी भी क्षेत्र की तरह संगीत में भी विभिन्न शैलियाँ अस्तित्त्व में हैं। विभिन्न परिप्रेक्ष्य से उनकी कई शाखाएँ दृश्यमान होती हैं, जिनका भाव-रस से परस्पर भिन्न संबंध रहा है। अन्य कलाओं की तरह पाश्चात्य संगीत भी रजोगुणप्रधान है, जिसकी अपेक्षा भारतीय संगीत सत्तवगुणप्रधान है। भारतीय संगीत के अंतर्गत शास्त्रीय, सुगम तथा लोक संगीत - ऐसी शाखाएँ हैं। लोक संगीत में श्रृंगार, वीर तथा हास्य जैसे रस का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। सुगम संगीत में सभी रस दृश्यमान होने के बावजूद श्रृंगार, करुण, भक्ति, इत्यादि रस का प्राधान्य मिलता है। सुगम तथा लोक संगीत के माध्यम से भक्ति एवं समर्पण की भावनाओं की अभिव्यक्ति हमेशा से होती आई है, परंतु उसमें मनोरंजन का प्राधान्य विदीत होता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की बात की जाए, तो वह शास्त्रोक्त नौ (९) रस को अपने आप में सँजोए हुए है, परंतु उसका अंतिम लक्ष्य ईश्वर आराधना, आत्म-साधना है। सिर्फ भक्ति रस न होते हुए भी भारतीय शास्त्रीय संगीत में समर्पण भाव की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति हमेशा पाई जाती है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में मुख्य दो शैली उत्तर हिन्दुस्तानी तथा दक्षिण

हिन्दुस्तानी हैं, जिनमें उत्तर हिन्दुस्तानी में गांभीर्य एवं दक्षिण हिन्दुस्तानी में चांचल्य अधिक दृश्यमान होता है। गायन में विभिन्न प्रबंध प्रकार विभिन्न रस के पोषक सिद्ध होते हैं। ध्रुपद में वीर, शांत, अद्‌भुत रस का, धमार में श्रुंगार रस का, खयाल में श्रुंगार, करुण, भक्ति, वात्सल्य, शांत रस का, ठुमरी में श्रुंगार एवं करुण रस का प्राधान्य पाया जाता है। वादन में वाद्य के स्वभाव के मुताबिक रस निर्मिति होती है। सरोद अत्यंत गंभीर प्रकृति का वाद्य है, जबकि संतूर अति चंचल। सारंगी, वायलिन, जैसे वाद्य स्वयंभू अपने नाद से करुण रस की अनुभूति करवाते हैं, सितार श्रुंगार की, तो बाँसुरी शांत रस की। अलबत्त, उसमें बजाए जाने वाले राग का रस बहुत मायने रखता है। नर्तन के प्रकारों में कथक, मोहिनीअट्टम, मणिपुरी, इत्यादि श्रुंगार रस प्रधान हैं, जबकि भरतनाट्यम्, कथकली, कुचीपुड़ी, ओडिसी, इत्यादि भक्ति रस प्रधान हैं। गायन-वादन-नर्तन तीनों के घराने भी रस परिणति में बहुत एहमियत रखते हैं। कुछ घराने का बढ़त का ढंग गंभीर रहता है, कुछ का चंचल रहता है। स्वाभाविक रूप से गंभीर प्रकृति एवं चंचल प्रकृति भिन्न-भिन्न रस की अभिव्यक्ति करती है, भिन्न-भिन्न रस की अनुभूति करवाती है। अतः भाव-रस के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न सांगीतिक शैलियों का (परस्पर भिन्न-भिन्न,) अत्यंत महत्त्वपूर्ण, विशिष्ट स्थान है।[२]

- **तांडव-लास्य :**

भारतीय शास्त्र के अनुसार नर्तन के मुख्य दो प्रकार माने गए हैं : तांडव और लास्य। उद्धत भावों से युक्त नर्तन 'तांडव' कहा गया है, जो भगवान शिव द्वारा रचित (एवं तंडु मुनि द्वारा प्रचलित) माना गया। सुकुमार भावों से युक्त नर्तन 'लास्य' कहा गया है, जो माता पार्वती द्वारा रचित माना गया। पारंपारिक रूप से तांडव पौरुषी एवं लास्य स्त्रैण मानकर अनुक्रम से पुरुष एवं स्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता था, जिसमें कालक्रम से परिवर्तन आए। तांडव में उद्धत, कठोर करण और अंगहार प्रयुक्त होते हैं; जबकि लास्य में सुकुमार, ललित, कोमल करण और अंगहार प्रयुक्त होते हैं।

मूलभूत रूप से तांडव संहार की एवं लास्य लालित्य की अभिव्यक्ति करता है। परिणाम स्वरूप तांडव रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स जैसे रस की निष्पत्ति व अनुभूति के लिए सक्षम (माना जाता) है; तथा लास्य श्रृंगार, हास्य, अद्‌भुत, करुण एवं शांत रस की निष्पत्ति के लिए सक्षम (माना जाता) है। आधुनिक समय में अक्सर जो कृतियाँ प्रस्तुत होती हैं, उनमें सिर्फ तांडव या सिर्फ लास्य न होते हुए दोनों का समन्वय दृश्यमान होता है। यह भी आवश्यक नहीं, कि केवल पुरुष कलाकार द्वारा ही तांडव की प्रस्तुति हो और केवल स्त्री कलाकार द्वारा ही लास्य की। परंतु लास्य अंग स्त्रैणत्त्वयुक्त है तथा तांडव अंग पौरुषयुक्त है। (जो कि जाति नहीं, बल्कि गुण है और दोनों ही गुण दोनों जाति में विद्यमान हैं। तांडव एवं लास्य अंग अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण विभिन्न रस की अभिव्यक्ति का माध्यम एवं अनुभूति का कारण बनते हैं। नर्तन के विविध प्रकारों में पारंपारिक रूप से तांडव और लास्य का प्रमाण भी निश्चित होता है, जो उन्हें तद्‌अनुसार रस-निष्पत्ति के लिए अनुकूल बनाते हैं। जैसे, मोहिनीअट्टम् में लास्य अंग के परिणाम स्वरूप श्रृंगारिकता अधिक है।[३]

- **नायक-नायिका भेद :**

मानव-स्वभाव के अनुसार शास्त्रकारों ने स्त्री और पुरुष के अनेक भेद और प्रभेद किये हैं, जिन्हें 'नायक-नायिका भेद' कहा गया है। रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में रस के कारण को विभाव कहा जाता है, जिसके दो प्रकार आलंबन विभाव (जिस पर रस-निर्मिति अवलंबित हो) तथा उद्दीपन विभाव (जो रस-निर्मिति में उद्दीपक हो) हैं। आलंबन विभाव के रूप में अत्याधिक प्रमाण में नायक-नायिका ही होते हैं। नर्तन विधा में नायक-नायिका भेद का स्थान अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न प्रकार के नायक और नायिका भिन्न-भिन्न भाव-रस के आलंबन होते हैं। नायक-नायिका भेद से रस के संबंध का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

मनुष्य का स्वभाव उत्तम, मध्यम तथा अधम - तीन प्रकार का होता है। उत्तम प्रकृति के मनुष्य सदाचारी, ज्ञानवान, उदार, त्यागी, संयमी, गंभीर और दूसरों को सुख पहुँचाने वाले होते हैं। मध्यम प्रकृति के मनुष्य व्यवहार-कुशल, चतुर एवं शिल्प-शास्त्र में प्रवीण होते हैं। अधम प्रकृति के मनुष्य दुष्ट, अभद्र व्यवहार करने वाले, छली, कपटी, क्रोधी, हिंसक, मंद बुद्धि वाले, अहंकारी, प्रमादी, कामुक एवं पापी होते हैं। स्वाभाविक रूप से उत्तम प्रकृति के मनुष्य शांत, वीर, अद्‌भुत, करुण, भक्ति, इत्यादि रस के; मध्यम प्रकृति के मनुष्य श्रृंगार, वात्सल्य, हास्य, इत्यादि रस के; तथा अधम प्रकृति के मनुष्य रौद्र, भयानक, बीभत्स, इत्यादि रस के आलंबन होते हैं। इन मूलभूत प्रकृतियों के आधार पर नायक-नायिका के भेद-प्रभेद कौन-कौन से रस के पोषक होते हैं, यह विचार किया जा सकता है।

- **नायक-भेद :**

१. स्वभाव अनुसार :

१) धीरोदात्त - जो आत्मश्लाघा के दोष से मुक्त, क्षमायुक्त, अति गंभीर, स्थितप्रज्ञ, दृढवर्ती (निश्चयी), विनम्र, स्वाभिमानी और उदार हो। अधिकांश यह नायक शांत, करुण, वीर, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

२) धीरोद्धत - जो ईर्ष्यालु, छली, मायावी, प्रचण्ड घमण्डी, दुर्दान्त और आत्मश्लाघी हो। अधिकांश यह नायक रौद्र, भयानक, बीभत्स, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

३) धीर ललित - जो निश्चित, मृदु स्वभाव, विनोदप्रिय और कलाप्रेमी हो। अधिकांश यह नायक श्रृंगार, हास्य, वात्सल्य, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

४) धीर प्रशान्त - जो दातृत्त्वयुक्त, कृतज्ञ, ज्ञानी, विद्वान और तपस्वी हो। अधिकांश यह नायक शांत, करुण, भक्ति, अद्‌भुत, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

२. **धर्म अनुसार :**

१) पति - जो नायिका से विवाहित हो। उसके ५ प्रभेद हैं :

i) अनभिज्ञ - जिसे श्रृंगार की सरस क्रियाओं का कतई ज्ञान न हो। अधिकांश यह नायक नायिका के असंतोष का कारण बनकर करुण, हास्य, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

ii) अनुकूल - जो अपनी विवाहिता स्त्री से पूर्ण प्रेम रखता हो तथा अन्य स्त्री का कभी विचार भी नहीं करता हो। अधिकांश यह नायक नायिका के पूर्ण संतोष का कारण बनकर श्रृंगार इत्यादि रस का आलंबन होता है।

iii) दक्षिण - जो अनेक पत्नियाँ होने के बावजूद भी सभी के प्रति समान अनुराग रखता हो। अधिकांश यह नायक सभी पत्निओं के संतोष का कारण बनकर श्रृंगार इत्यादि रस का आलंबन होता है।

iv) शठ - जो अन्य स्त्री में अनुरक्त होकर अपनी विवाहिता स्त्री को छलपूर्वक भुलावे में डालकर अपना अपराध छिपाता हो और उसके लिए पत्नी से मीठी बातें बनाकर उसके प्रति अनुकूलता-सी दिखाता रहता हो। अधिकांश यह नायक बाहरी वर्तन से श्रृंगार रस का, परंतु उसकी वास्तविकता बाहर आने पर करुण, रौद्र, बीभत्स, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

v) धृष्ट - जो बार-बार अपराध करने पर भी निःशंक रहे और अनेक झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित न होते हुए नम्र, निश्चल बना रहे और झूठ बोलने में तनिक भी संकोच न करता हो। अधिकांश यह नायक पत्नी को दुःख प्रदान कर करुण, रौद्र, बीभत्स, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

२) उपपति - जो परस्त्री में अनुरक्त हो, सौन्दर्य-सुधा देखकर कली-कली का रस चखने की भ्रमर-वृत्ति रखता हो। उसके २ प्रभेद हैं :

i) वचन चतुर - जो (उपपति) वाक्चातुरी से अपना कार्य सिद्ध करता हो। अधिकांश यह नायक घृणा, निरस्कार, क्रोध, दुःख, इत्यादि का कारण बनकर बीभत्स, रौद्र, करुण, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

ii) क्रिया चतुर -जो (उपपति) छल-कपट से अपना मतलब निकाल लेता हो। अधिकांश यह नायक घृणा, निरस्कार, क्रोध, दुःख, इत्यादि का कारण बनकर बीभत्स, रौद्र, करुण, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

३) वैशिक - जो वेश्यानुरागी, निःशंक और निर्लज्ज हो। अधिकांश यह नायक बाहरी वर्तन से श्रृंगार रस का, परंतु उनकी वास्तविकता सामने आने पर रौद्र, बीभत्स, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

३. अवस्था अनुसार :

१) मानी - जो प्रियतमा द्वारा किये गए अपमान से अप्रसन्न होकर मान करता हो। अधिकांश यह नायक रौद्र, करुण, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

२) प्रोषित - जो प्रवास में होने से प्रियतमा के विरह से व्याकुल हो। अधिकांश यह नायक श्रृंगार, करुण, इत्यादि रस का आलंबन होता है।

उल्लेखनीय है, कि उपरोक्त शास्त्रोक्त भेद-प्रभेद परस्पर एकत्रित होकर किसी नायक का चरित्र-निर्माण होता है। अपनी लाक्षणिक विशिष्टताओं तथा कथावस्तु की परिस्थिति के अनुसार वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम एवं रसानुभूति का कारण बनता है।

- **नायिका-भेद :**

१. धर्म अनुसार :

१) स्वकीया - जो बड़ी चरित्रवती, पतिव्रता एवं लज्जावती हो। उसके ५ प्रभेद हैं:

i) मुग्धा - जो बाल्यावस्था से यौवनावस्था में प्रवेश कर रही होने से कामक्रीड़ा से अज्ञात, अनुभव रहित, कोमलांगी हो। १४ वर्ष से कम आयु हो, तो 'बाला' कही जाती है; १४ से २० वर्ष की आयु तक 'मुग्धा' या 'प्रथम यौवना' कही जाती है। यह क्रोध में भी मृदु होती है तथा बड़ी सरलता से प्रसन्न हो जाती है। उसके दो प्रकार हैं - अज्ञात यौवना तथा ज्ञात यौवना। अज्ञात यौवना वह है, जो अपने भोलेपन में अभी भी अपनी आती हुई युवावस्था और उसके साथ के विचित्र परिवर्तन के कारण को समझ नहीं सकती। ज्ञात यौवना वह है, जो अपने अंकुरित यौवन से ज्ञात है और अपने जीवन में एक नए प्रकार की झलक का अनुभव करने लगी है। ज्ञात यौवना के दो प्रकार हैं - नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा। नवोढ़ा वह है, जो बिलकुल नव-विवाहिता है, अत्यंत भय और लज्जा के कारण रति से दूर रहना चाहती हो। विश्रब्ध नवोढ़ा वह है, जो अपने पति पर कुछ विश्वास तथा प्रेम - रति में अनुराग रखने लगी हो। अधिकांश मुग्धा नायिका श्रृंगार रस के विविध प्रकार तथा क्वचित भीति के कारण भयानक या करुण रस का आलंबन होती है।

ii) मध्या - जो श्रृंगार शास्त्र की मर्मज्ञ तथा अनुभवी हो। उसमें प्रेम एवं कामेच्छा तथा लज्जा दोनों समान प्रमाण में होते हैं। वह २० से २६ वर्ष तक की आयु की होती है, जिसे 'द्वि यौवना' भी कहा जाता है। उसके तीन प्रकार हैं - मध्या धीरा, मध्या धीराधीरा तथा मध्या अधीरा। मध्या धीरा वह है, जो पति के अन्य नायिका से मिलने के चिन्हों को देखकर व्यंग द्वारा रोष प्रकट करती है, पति के मन में खेद उत्पन्न करने में समर्थ भी रहती है, परंतु साथ ही स्वयं प्रसन्नता एवं पति के प्रति आदर भी बनाए रखती है। मध्या धीराधीरा वह है, जो

अश्रुओं सहित अपराधी पति के हृदय में खेद उत्पन्न करती है। मध्या अधीरा वह है, जो रुक्ष बनकर क्रोधपूर्वक कटु वचनों से अपराधी पति के हृदय में खेद उत्पन्न करती है। अधिकांश मध्या नायिका श्रृंगार तथा क्वचित व्यंग द्वारा हास्य, क्रोध द्वारा रौद्र रस का आलंबन होती है।

iii) प्रगल्भा - जो काम-कला में संपूर्ण प्रवीण, अनुभवी एवं भय, संकोच, लज्जा आदि से मुक्त हो। वह २६ से ३५ वर्ष तक की आयु की होती है, जिसे 'त्रि यौवना' भी कहा जाता है। वह अपने यौवन के गर्व से सदा उन्मत रहती है, श्रृंगार-शास्त्र एवं चेष्टाओं में पारंगत होती है। उसके तीन प्रकार हैं - प्रगल्भा धीरा, प्रगल्भा धीराधीरा तथा प्रगल्भा अधीरा। प्रगल्भा धीरा वह है, जो अपने क्रोध को छिपाती हुई बाहर से अपनी बातों द्वारा बड़ा आदर, सत्कार दिखाती है, परंतु प्रेम-क्रीड़ा की ओर उदासीन रहती है। प्रगल्भा धीराधीरा वह है, जो अपने व्यंग-वचनों से पति को खिन्न करती है। प्रगल्भा अधीरा वह है, जो क्रुद्ध होकर पति को बुरी तरह झिड़कती है और उसे शारीरिक कष्ट भी दे डालती है। अधिकांश प्रगल्भा नायिका श्रृंगार, रौद्र, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

iv) चतुर्थ यौवना - जो ३५ से ४५ वर्ष तक की आयु की होती है। उसके अत्याधिक गुण प्रगल्भा नायिका के समान ही होते हैं।

v) वृद्धा - जो ५० वर्ष या उससे अधिक आयु की होती है। उसके स्वाभाविक लक्षण उसे शांत, भक्ति, वात्सल्य, इत्यादि रस का आलंबन बनाते हैं।

(उल्लेखनीय है, कि शास्त्रों में मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा - ये तीन नायिका पर ही अधिक चर्चा की गई है; चतुर्थ यौवना या वृद्धा पर नहीं।)

२) परकीया - जो छिप-छिपकर पर-पुरुष से प्रेम करती हो। उसके मुख्य २ प्रभेद हैं :

i) उढ़ा - जो विवाहिता होकर भी अपने पति से प्रेम करके गुप्त रूप से पर-पुरुष से प्रेम करती है। अधिकांश उढ़ा नायिका श्रृंगार तथा वीर, करुण, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

ii) अनूढ़ा - जो कौमारवस्था में ही गुप्त रूप से किसी पुरुष के प्रेम-जाल में बँध जाती है। अधिकांश अनूढ़ा नायिका श्रृंगार तथा वीर, करुण, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

इन प्रभेदों के प्रकारों में उद्‌बुधा, उद्बोधिता, सुरत गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना तथा मुदिता समाविष्ट हैं। उद्‌बुधा वह है, जो स्वयं अपनी ही इच्छा द्वारा प्रेरित होकर उपपति से प्रेम करती है। उद्बोधिता वह है, जो उपपति द्वारा प्रेरित होकर उसके प्रेम में प्रवृत्त होती है। सुरत गुप्ता वह है, जो पर-पुरुष के साथ की गई रति के चिन्हों को छुपाती है। विदग्धा वह है, जो चातुर्य और कौशल से छिपकर पर-पुरुष के साथ रति करती है। लक्षिता वह है, जिसके लक्षण उसके प्रेम-प्रसंग का प्रमाण दे दें। कुलटा वह है, जो बहुत से पुरुषों से सुरत करके भी असंतुष्ट रहती है। अनुशयना वह है, जो मिलन का संकेत स्थल नष्ट होने के कारण दुःखी होती है। मुदिता वह है, जो मनचाही साज-सज्जा तथा अन्य गतिविधियों को देखकर अपनी अभिलाषा-पूर्ति के विचार से मन ही मन मुदित होती रहती है।

३) सामान्या - जो गणिका या वेश्या होती है। उसके जीवन का लक्ष्य अपना रूप और यौवन बेचकर धन-संग्रह करना होता है। वह कलाओं में कुशल, साहसिक और धूर्त भी होती है। वह अनेक पुरुषों से प्रेम का दिखावा करके उन्हें अपने प्रपंच-पाश में फँसाती है। उसके दो प्रभेद हैं :

i) जननी आधीना - जो माता के अधीन रहकर अपना व्यापार करती हो। अधिकांश यह नायिका श्रुंगार तथा क्वचित माता के प्रभाव से करुण इत्यादि रस का आलंबन होती है।

ii) स्वतंत्रा - जो स्वतंत्र रहकर अपना व्यापार करती हो। अधिकांश यह नायिका श्रुंगार, वीर, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

२. प्रकृति अनुसार :

१) उत्तमा - जो धर्मयुक्त, उदार और पति की हितैषी हो। पति द्वारा अहित होने पर भी पति के हित की भावना रखकर उसकी सेवा में रत रहती है। अधिकांश यह नायिका श्रुंगार, भक्ति, शांत, करुण, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

२) मध्यमा - जो स्नेहशील परंतु शंकित, काम-कला में कुशल, प्रियतम के दोष पर व्यंग-क्रोध करके स्वयं भी दुःखी होती हो, क्षण में प्रसन्न, क्षण में रुष्ट होती हो तथा क्वचित अन्य पुरुष की इच्छा भी रखती हो। अधिकांश यह नायिका श्रुंगार, करुण, रौद्र, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

३) अधमा - जो अकारण क्रोध करने वाली, दुष्ट प्रकृति की, कटु-भाषिणी, पति-विरुद्ध आचरण करने वाली, पति के प्रेमपूर्ण व्यवहार के बदले में भी उसका निरादर करने वाली हो। अधिकांश यह नायिका रौद्र, भयानक, बीभत्स, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

३. जाति अनुसार :

१) पद्मिनी - जो अत्यंत सुन्दर, अल्प रोम वाली, सुगंधित शरीर वाली, संगीत-नृत्य में रुचि रखने वाली हो। अधिकांश यह नायिका श्रुंगार, अद्‌भुत, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

२) चित्रिणी - जो शीलवती, अल्प लज्जायुक्त, नृत्य-गान तथा हँसी-मजाक में रुचि रखने वाली, मझोले शरीर की, तिल-फूल जैसे नाक वाली, नीलकमल जैसे

नेत्र वाली हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार, हास्य, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

३) शंखिणी - जो कृश शरीर वाली, घमंडी, क्रोधी, निर्लज्ज, कंठ पर शंख की भाँति तीन रेखा वाली हो। अधिकांश यह नायिका रौद्र इत्यादि रस का आलंबन होती है।

४) हस्तिनी - जो स्थूल शरीर वाली, क्रोधी, उग्र स्वभाव की, अधिक रोमों वाली, हाथी के समान झूमती हुई चाल वाली हो। अधिकांश यह नायिका रौद्र, बीभत्स, भयानक, इत्यादि रस का आलंबन होती है।

४. स्वरूप अनुसार :

१) दिव्य - जो देव गुण संपन्न हो। अधिकांश यह नायिका अद्‌भुत, श्रृंगार, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

२) अदिव्य - जो मनुष्य-सहज गुण संपन्न हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार, तथा अन्य मानव-सहज गुण हास्य, करुण, रौद्र, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

३) दिव्यादिव्य - जो संसार में जन्मी होने के बावजूद भी देव गुण संपन्न हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार, करुण, भक्ति, शांत, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

५. अवस्था अनुसार :

१) स्वाधीन पतिका - जो अपने रति गुणों से वशीभूत करके प्रियतम को सदैव अपने संग में बाँधे रखने में समर्थ होती हो तथा परिणाम स्वरूप प्रसन्न रहती हो। विचित्र विलासयुक्त रहती हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार, हास्य, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

२) वासक सज्जा - जो सुसज्जित भवन में सखियों द्वारा सजकर, संभोग सामग्री सहित समागम के लिए प्रियतम का इंतज़ार करती हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार इत्यादि रस की आलंबन होती है।

३) विरहोत्कंठिता - जो प्रियतम के वापिस न आने पर उसकी प्रतीक्षा करती हुई चिंतित एवं खिन्न होती हो। अधिकांश यह नायिका करुण, क्वचित अत्याधिक चिंता से भयानक, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

४) खंडिता - जो अन्य नारी संभोगजनित रति-चिन्हों से युक्त प्रियतम को प्रातः समय वापिस घर आया देखकर कुपित होती हो, ईर्ष्या करती हो। अधिकांश यह नायिका करुण, रौद्र, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

५) कलहान्तरिता - जो पहले प्रियतम का अनादर, अपमान करती है और फिर बाद में उसके चले जाने पर पछताती है। अधिकांश यह नायिका रौद्र, करुण, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

६) विप्रलब्धा - जो निश्चित समय पर संकेत-स्थान पर पहुँचती है, पर वहाँ प्रियतम के न आने से दुःखी होती हो। अधिकांश यह नायिका करुण इत्यादि रस की आलंबन होती है।

७) प्रोषितपतिका - जो प्रियतम के परदेश चले जाने से विरह-व्यथित होकर केश-प्रसाधन आदि श्रृंगार त्यजकर केवल उदासीनता में रहती हो। अधिकांश यह नायिका करुण इत्यादि रस की आलंबन होती है।

८) अभिसारिका - जो काम और यौवन के मद से वशीभूत होकर लज्जा त्याग कर प्रियतम से मिलने चली जाती हो। इसके ३ प्रभेद हैं :

i) शुक्लाभिसारिका - जो चाँदनी रात में उसके अनुरूप श्वेत वस्त्राभूषण धारण कर अभिसार को जाती हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार इत्यादि रस की आलंबन होती है।

ii) कृष्णाभिसारिका - जो अँधेरी रात में उसके अनुरूप काले या नीले वस्त्राभूषण धारण कर अभिसार को जाती हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार इत्यादि रस की आलंबन होती है।

iii) दिवाभिसारिका - जो दिन में ही दिन के अनुरूप वस्त्राभूषण धारण कर अभिसार को चली जाती हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार इत्यादि रस की आलंबन होती है।

९) प्रवत्स्यत्पतिका - जो अपने प्रियतम के परदेश जा रहे होने का समाचार सुनकर व्याकुल हो उठती हो। अधिकांश यह नायिका करुण रस की आलंबन होती है।

१०) आगतपतिका - जो प्रियतम के पुनः आगमन से अत्यंत आनंदित हो उठती हो, जिसका हृदय प्रसन्नता से छलक उठता हो। अधिकांश यह नायिका श्रृंगार, हास्य, इत्यादि रस की आलंबन होती है।

उपरोक्त शास्त्रोक्त भेद-प्रभेद परस्पर एकत्रित होकर किसी नायिका का चरित्र-निर्माण होता है। अपनी लाक्षणिक विशिष्टताओं तथा कथावस्तु की परिस्थिति के अनुसार वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम एवं रसानुभूति का कारण बनती है।

रस-निर्मिति में नायक-नायिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।[४]

निःसंदेह इन सौन्दर्यात्मक तत्त्वों से ही संगीत कला में प्राण-संचार होता है। उनके प्रयोग के बिना संगीत कला नहीं रहते हुए केवल शुष्क कंकाल-तंत्र की भाँति रह जाता है, जो रसाभिव्यक्ति करने और रसानुभूति करवाने सक्षम नहीं हो सकता। इसीलिए हमारे विद्वानों द्वारा अति सूक्ष्म स्तर पर चिंतन-मनन-मंथन करके इन तत्त्वों को सांगीतिक प्रस्तुति में अनिवार्य स्थान दिया गया है। परंतु इन सब के साथ कलाकार के हृदय-मन में भाव, सौन्दर्य-चेतना, सूझ-बूझ होना परम आवश्यक है। ये सौन्दर्यात्मक तत्त्व बाहरी हैं, जिनका समुचित प्रयोग कलाकार की आंतरिक भावानुभूति की प्रेरणा से होता है। संगीत की बाह्य रूपरेखा को जब तक आंतरिक शक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक वह निष्प्राण है। सौन्दर्यात्मक तत्त्व संगीत में भाव की अभिव्यक्ति अवश्य करते हैं, पर अभिव्यक्ति तभी संभव होगी, जब मन में अनुभूति

होगी। अतः आंतरिक भाव तथा बाह्य सौन्दर्यपूर्ण तत्त्वों (अलंकरणों) के उचित समन्वय से संगीत कला भावपूर्ण, रसपूर्ण, आकर्षक स्वरूप ग्राह्य करती है, ऐसा कहना उचित है।

संगीत में साहित्य का उपयोग उत्पन्न होने वाले रस तत्त्व को अत्याधिक स्पष्ट, अर्थसभर रूप प्रदान करता है। कभी कभी यह भी होता है, कि कोई रसिक संगीत की अति सूक्ष्म विशेषताओं का पूर्ण आस्वादन करने सक्षम न हो। ऐसी स्थिति में प्रस्तुति में साहित्य का समावेशन रसिक की रुचि बनाए रखता है। क्योंकि साहित्य भाषा पर आधारित है, उसे समझना सरल है, यदि वह अनुभूति तक न भी पहुँचे, तब भी जन-समुदाय को कुछ न कुछ समझ में आता रहने से प्रस्तुति में उनका रस, रुचि बना रहता है। सुगम संगीत में अत्याधिक लोगों की रुचि का कारण ही यह है, कि उसमें उच्च कोटि का आकर्षक साहित्य सरल संगीत में बाँधकर परोसा जाता है।

ठुमरी गायक कभी-कभी बीच में गाना रोककर एक तरह का पाठ जैसा करते हैं, स्वर में ही करते हैं, लेकिन उसमें काव्य प्रधान हो जाता है। उदाहरण स्वरूप, किसी कलाकार ने ठुमरी गाई - 'मुरलिया अब न बजाओ श्याम'। थोड़ी देर मूल ठुमरी को गाकर बीच में रोक दिया और मुरली पर कोई कवित, मुक्तक सुनाया। यहाँ संगीत दुर्बल और साहित्य प्रबल होता है। ऐसे में श्रोताओं को बहुत आनंद आता है और बहुत तारीफ़ भी होती है। यह आनंद संगीत से ज्यादा साहित्य की बजह से, या दोनों के उत्कृष्ट मेल की वजह से होता है। इसमें कोई दोष या हीनता की बात नहीं है, क्योंकि कला का अंतिम ध्येय रस-निष्पत्ति ही है। बात केवल विश्लेषण की है, कि संगीत में साहित्य का उपयोग किस प्रकार करने से आम श्रोताओं के लिए भी प्रस्तुति अधिक रसप्रद होती है।

जगजीत जी ने अपनी एक मेहफ़िल में कहा था, कि पंक्ति के बीच में यदि तारीफ़ हुई, तो वह उनकी (संगीतकार-गायक की) है; पंक्ति समाप्त होने पर - उसका

अर्थ स्पष्ट होने पर - की गई तारीफ़ तो शायर के लिए है ! उनका कथन भी उपरोक्त विश्लेषण की पूर्ति करता है, समर्थन करता है।

जब बिना साहित्य के, केवल स्वर-राग-लय-ताल के शुद्ध (pure) गायन एवं वाद्य संगीत की बात हो, तो अत्याधिक विद्वानों का मंतव्य है, कि वह शास्त्रोक्त नव (९) रस में से सभी की अभिव्यक्ति करने सक्षम नहीं है। अधिकांश विद्वानों का कथन यह होता है, कि संगीत की गायन तथा वादन के माध्यम से श्रुंगार, करुण, अद्‌भुत, वीर तथा शांत रस की अभिव्यक्ति हो सकती है; परंतु बीभत्स, हास्य, रौद्र और भयानक की अभिव्यक्ति केवल स्वर-राग-लय-ताल से करना कठिन, लगभग नामुमकिन के बराबर है। यदि नर्तन या नाट्य में उपरोक्त रस प्रदर्शित करने हैं, तो उसके प्रभाव में वृद्धि करने वाला गायन-वादन अवश्य संगत के रूप में हो सकता है, जिसका विश्लेषण भरतमुनि ने भी दिया है; परंतु केवल वह संगत के लिए की गई रचना गाने-बजाने से इन रसों की निष्पत्ति हो जाए, वह हमेशा संभव नहीं।[५]

संगीत की नर्तन विधा निश्चित रूप से सभी रस की अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप से करने के लिए सक्षम है, क्योंकि उसमें मूलभूत घटक के रूप में अभिनय भी समाविष्ट है। अभिनय के आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक प्रकार मिलके ऐसा माध्यम बनता है, जो सभी मानवीय भावनाओं को हुबहु प्रस्तुत कर सकता है। अभिनय भी साहित्य की तरह अत्यंत स्पष्ट घटक है, उसका अर्थ बाहरी स्तर पर प्रायः सभी को समझ आता है। इसी कारण, आम रसिक को नर्तन अत्याधिक आकर्षक लगता है। नर्तन विधा का आकर्षक होना इसलिए भी है, क्योंकि उसके साथ बहुत सारी कलाएँ प्रस्तुत हो जाती है। गायन तथा वादन तो संगत में होते ही है, उसके उपरांत अक्सर साहित्य पक्ष भी मौजूद होता है। नर्तन विधा के रंगीन आकर्षक वस्त्राभूषण चित्रकला के सौन्दर्य की पूर्ति करते हैं। नर्तन कला स्वयं अंगभंगिमाओं से शिल्प कला की प्रतिकृति निर्माण करती है। रंगमंच पर आकर्षक सजावट स्थापत्य कला की अनुभूति

करवाती है। इस प्रकार, नर्तन कला (विधा) की प्रस्तुति प्रायः सभी ललित कलाओं को अपने साथ संजोये हुए होने से सामान्यतः सर्वाधिक आकर्षक, रसप्रद और प्रिय बनी रहती है। रसाभिव्यक्ति करके रसानुभूति करवाने में उसे सभी कलाओं में सर्वाधिक असरकारक मानना अनुचित नहीं है।

संगीत कला से प्रभावपूर्ण रस-निष्पत्ति के उदाहरण प्राचीन समय से उपलब्ध हैं। भारतीय संगीत-साहित्य में संगीत सम्राट तानसेन से संबंधित कई चमत्कारों का वर्णन है। उन्होंने दीपक राग गाकर दिये जलाए, उनके शरीर में दाह लगा, इत्यादि। फिर वह दाह किसी भी प्रकार शम न पाने से वे ताना-रीरी के पास गए, जिन्होंने मेध राग गाकर वर्षा की और तानसेन स्वस्थ हुए। वैज्ञानिक दृष्टि से ये दंतकथाएँ सर्वमान्य नहीं हो सकती। परंतु रसशास्त्र की दृष्टि से इस घटना को नवीन परिप्रेक्ष्य से देखा जा सकता है। संभव है, कि इस कथा का तात्पर्य यह हो, कि तानसेन ने दीपक राग की प्रस्तुति, रसाभिव्यक्ति इतनी प्रभावपूर्ण की, कि असंख्य दीये जलने जैसी, शरीर में दाह लगने जैसी अनुभूति हुई। ताना-रीरी द्वारा मेघ राग की प्रस्तुति, रसाभिव्यक्ति इतनी प्रभावपूर्ण होगी, कि वर्षाऋतु जैसी अनुभूति होने पर तानसेन का दाह-पीड़ा शमा हो। इसी प्रकार श्रीकृष्ण की बाँसुरी का प्रभाव, जिसमें गोप-गोपी, हिरन, गाय, सभी रस-विभोर, भाव-विभोर होकर स्वयं को भूल जाते थे। ग्रीक साहित्य में भी इसी प्रकार ऑरफेन्स का वर्णन है, जो अपने संगीत के प्रभाव से चराचर जगत को हिला देता था, समुद्र की उत्ताल तरंगों को शांत कर देता था, वायु के वेग को रोक देता था और पर्वतों को गति देता था। इस वर्णन का तात्पर्य यह रहा होगा, कि उसके संगीत की रसनिष्पत्ति इतनी प्रभावपूर्ण होगी, जो असंभव को भी संभव अनुभव करवा सके; ऐसा अनुमान करना अनुचित नहीं होगा।[६]

संगीत कला के इसी जादुई प्रभाव का उपयोग आधुनिक मानवी ने आधुनिक रूप से किया है, जिसका उदाहरण संगीत चिकित्सा है। विभिन्न वाद्यों एवं विभिन्न रागों के भिन्न-भिन्न प्रकृति, रस और प्रभाव को मानते हुए भिन्न-भिन्न रोगों की

चिकित्सा में उनका उपयोग किया गया है। ब्लड-प्रेशर या अल्ज़ाइमर जैसी अनेक गंभीर बीमारी की चिकित्सा में संगीत का उपयोग होना और हकारात्मक परिणाम पाना किसी चमत्कार से कम नहीं है। इस चिकित्सा के संदर्भ में भी कई मत-मतांतर हैं। कुछ चिकित्सकों का कथन है, कि कोई भी संगीत किसी भी रोग में कुछ न कुछ हकरात्मक असर अवश्य करता है। कुछ चिकित्सक विशेष रूप से भारतीय शास्त्रीय संगीत के हिमायती है। कुछ ने विभिन्न रागों के, विभिन्न वाद्यों के विशिष्ट रस को मानकर उनका प्रभाव निश्चित रोग पर माना है। कुछ विद्वानों ने संगीत श्रवण को लाभदायी बताया, तो कुछ ने मरीज़ द्वारा स्वयं गायन-वादन-नर्तन करना उपयोगी बताया है। इस विषय में काफी संशोधन हुआ है और अभी भी जारी है। पर इतना तो स्पष्ट है, कि संगीत द्वारा रस-निर्मिति की घटना में आधुनिक तबीबी विज्ञान को दिलचस्पी है और उसने इसका उपयोग भी करना शुरू कर दिया है।७

कालक्रम से मनुष्य एवं उससे संलग्न तमाम विधाओं में परिवर्तन आते रहते हैं, यह सनातन सत्य है। इन विधाओं में भारतीय शास्त्रीय संगीत भी समाविष्ट है। प्राचीन से आधुनिक काल तक हमारे संगीत में अनेक परिवर्तन आते रहे हैं, फिर भी उसका आधार - राग परंपरा - अब तक बनी रही है। प्राचीन समय में राग के स्थान पर जाति गायन होता था। कालांतर से ग्राम-राग और तत्पश्चात राग का वर्तमान स्वरूप अस्तित्त्व में आया। राग-संगीत में भी काफी परिवर्तन आते रहे हैं। राग-गायन शुरू हुआ, तब से लेकर आज तक के समय में कुछ राग लुप्त हुए, कुछ नए बने, कुछ का नाम बदला पर स्वरूप वही रहा, कुछ का नाम वही रहा पर स्वरूप बदला, कुछ के स्वरों के प्रयोग में थोड़ा-सा परिवर्तन आने से उनका थाट बदला, कुछ राग भारत बाहर से, कुछ दक्षिण भारत से लिये गए और कुछ राग ऐसे भी हैं, जिनमें खास कोई भी बदलाव नहीं आया। पहले मूर्च्छना पद्धति थी, जिसमें से मेल, थाट पद्धति बनी। तीन ग्राम में से केवल एक षड्ज-ग्राम ही बचा। शुद्ध थाट काफी से बिलावल हुआ। प्राचीन ध्रुवा गान के स्थान पर प्रबंध, उसके बाद ध्रुपद, फिर खयाल और तत्पश्चात

ठुमरी, चतरंग, दादरा, इत्यादि प्रचार में आया। कई वाद्यों का उद्भव, परिवर्तन एवं विकास होता रहा। नर्तन के विभिन्न प्रकारों का उद्भव एवं विकास हुआ, उसके पोशाक तक में काफी बदलाव आते रहे। महत्त्वपूर्ण बात इन सभी परिवर्तन के पीछे का कारण है। वह है : जन-रुचि। समय-समय पर लोगों की पसंद में परिवर्तन आता रहा, जिसकी परितृप्ति हेतु कला में भी बदलाव आता रहा, जिसने अपने साथ शास्त्र भी बदला। पहले ध्रुपद जैसा गंभीर गायन प्रचलित रहा और उस समय अत्याधिक लोगों ने खयाल को निम्न माना। परंतु कालक्रम से खयाल से होने वाली रस-निष्पत्ति लोगों को भाने लगी। यही ठुमरी के साथ हुआ। पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोगों में समय, धैर्य, गांभीर्य इत्यादि कम होता जा रहा है। यह भी ध्रुपद से खयाल और बाद में ठुमरी की लोकप्रियता बढ़ने का कारण है। तात्पर्य यह है, कि परिवर्तन का आधार लोगों की रुचि है, लोगों की अनुभूति है। रसिकों की भावनाओं को ध्यान में रखकर कला ने भाव, रस की अभिव्यक्ति करने का प्रयास सदैव किया, जिससे वह निरंतर विकसित होती रही। अतः कला में आते रहते परिवर्तन के मूल में भी भाव-रस ही है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। इसी सिलसिले में परिवर्तन की यह प्रक्रिया निरंतर जारी रहेगी। कला कितना भी नवीन स्वरूप धारण कर ले, जब तक उसका मूल उद्देश्य - रसाभिव्यक्ति के माध्यम से रसानुभूति - बना रहे, तब तक वह आवकार्य ही रहेगी।

प्रो. प्रेमलता शर्मा का कथन है, कि “Asthetic experience is conditioned by both objective and subjective factors. In music, the objective factor is the whole tonal-rhythmic structure of a composition in all its complexity and the subjective factor is the total personality of the individual with all his likes and dislikes, experience, training and natural aptitude.”

अर्थात्, सौन्दर्यानुभव वस्तुनिष्ठ और विषयनिष्ठ दोनों ही है। संगीत में प्रस्तुति का स्वरात्मक-लयात्मक पहलू - स्वर-लय बंधारण - वस्तुनिष्ठ या वस्तुपरक कारक है,

जबकि व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, अनुभूति, तालीम, स्वाभाविक योग्यता, इत्यादि विषयनिष्ठ या विषयपरक कारक हैं।[८]

४.२ : संगीत के दौरान रस-हानि और उसके कारण

किसी भी कला में रस तत्त्व की उपस्थिति अनिवार्य रूप से आवश्यक है। कला का मूलभूत उद्देश्य रस-निष्पत्ति है, जो सर्वमान्य है। विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाए, तो कला में रस तत्त्व, सौन्दर्य तत्त्व इतना घुल-मिल सा गया है, कि उसके अलग अस्तित्त्व, उपस्थिति को लेकर रसिक और कभी-कभी कलाकार भी जागरूक, सचेत नहीं होते। कला और रस-निष्पत्ति, सौन्दर्याभिव्यक्ति मानो पर्याय-से बन गए हैं। कला के साथ रस-तत्त्व का सह-अस्तित्त्व मान लिया गया है।

यह सत्य है, कि कला का बाह्य शरीर भी मूलतः आकर्षक ही है, जो मनोरंजन करता है। परंतु भाव की उपस्थिति उस बाह्य सौन्दर्य में प्राण का संचार करके उसे अत्याधिक प्रभावपूर्ण बनाती है। भाव के बिना कला मस्तिष्क को आकर्षित कर सकती है; पर भावपूर्ण, रसपूर्ण कला मस्तिष्क के उपरांत मन, हृदय और आत्मा तक को आकर्षित करती है, सुकून देती है, कृतकृत्यता का अनुभव करवाती है।

वास्तव में कला में भाव के महत्त्व को समझने के लिए अभाव का होना आवश्यक है। जिस प्रकार सुख का महत्त्व दुःख के बिना नहीं समझ आता, उसी प्रकार भाव का महत्त्व उसके अभाव के बिना नहीं समझ आता।

जब किसी कला की प्रस्तुति शुष्क, नी-रस मेहसूस होती है, तब ज्ञात होता है, कि कला में भाव एवं रस का क्या महत्त्व है, क्या स्थान है। कला में रस-तत्त्व का स्थान बना रहे, उसके लिए यह जानना, समझना आवश्यक हो जाता है, कि वह कौन-से कारण हैं, जिनकी वजह से कला में रस का, भाव का प्रमाण कम हो जाता है या कला नीरस मेहसूस होती है।

प्रत्येक कला का हार्द एक होने के बावजूद भी, उनके माध्यम विभिन्न हैं, जो उन्हें परस्पर भिन्न स्वरूप प्रदान करते हैं। अतः रसमयता या नीरसता के कारणों के

परिप्रेक्ष्य में हरेक की निजी लाक्षणिकता होती है, निजी वास्तविकता होती है। यहाँ संगीत कला के दौरान मेहसूस होने वाली रस-हानि तथा उसके कारण के संदर्भ में विश्लेषणात्मक चर्चा प्रस्तुत है।

सांगीतिक प्रस्तुति के मुख्य दो पक्ष होता हैं - भाव पक्ष - जो अभिव्यक्ति करना है और तकनिकी या कला पक्ष - जिसके माध्यम से अभिव्यक्त करना है। जब क्या अभिव्यक्त करना है, वही भूलकर प्रस्तुति होती रहे, तो सिर्फ कला - तकनीक - अंग दिखता रहेगा और भाव के अभाव में रसहानि निश्चित है। वर्तमान शास्त्रीय संगीत में यह अत्यंत व्यापक हो गया है। वास्तव में संगीत की तकनीकें काफी मुश्किल है, प्रयत्न-साध्य है। कठिन रियाज़ के पश्चात उसे आत्मसात करना संभव हो पाता है। अतः उसके लिए लोगों को अहोभाव होता है। यह भी सत्य है, कि विभिन्न तकनीकों का प्रयोग सांगीतिक प्रस्तुति को नावीन्य एवं वैचित्र्य प्रदान करता है। इन कारणों की वजह से कुछ कलाकारों की मानसिकता संभवतः अजाग्रत रूप से ही ऐसी हो गई, कि प्रस्तुति में यह वैचित्र्य का सर्जन करने वाली तकनीक ही सर्वस्व है। उससे उत्पन्न होने वाली क्षणिक चमत्कृति रसिक को तत्क्षण अच्छी लगती है, जिसे कलाकार ने प्रशंसा पाने का साधन बना दिया है। रसिक को चमत्कृति से आश्चर्यचकित कर देने की मनशा में कलाकार भाव-पक्ष की ओर नहींवत् ध्यान देकर अपना समग्र ध्यान तकनीकों का प्रयोग विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, परंतु वह सर्वस्व बन जाए, तब परिस्थिति विपरीत हो जाती है। वर्तमान खयाल गायन में बंदिश के भाव को समझे या अनुभव किए बिना ही तकनीकों की भरमार कर दी जाती है। वाद्य संगीत में भी यही होता है। सितार जैसे वाद्य में स्वर-राग के माधुर्य पर ध्यान दिये बिना ही मींड इत्यादि पर अत्याधिक भार दृश्यमान होता है। वर्तमान समय में कथक जैसे नृत्य में संख्याबंध चक्कर तथा पैरों का काम - 'तत् कार' ही प्रस्तुति का लक्ष्य सा बना पाया जाता है। अभिनय - जो भाव-प्रदर्शन का मुख्य माध्यम है, उस पर कम ध्यान दिया जाता है। अत्याधिक तकनीकों से प्रस्तुति इतनी

जटिल हो जाती है, कि वह आम जनता के लिए भोग्य नहीं रह पाती। लोक संगीत की सरलता एवं भावपूर्णता ही उसे लोकभोग्य बनाती हैं। ये दोनों तत्त्वों का ह्रास वर्तमान शास्त्रीय संगीत में कई बार दृश्यमान होता है। भाव की अनुपस्थिति में रसनिष्पत्ति संभव नहीं। तकनीकों की भरमार भाव-तत्त्व पर छा जाती है और रस-हानि का कारण बनती है। तकनीकी पक्ष अधिक से अधिक मस्तिष्क से 'वाह' निकाल सकता है, परंतु हृदय को छूकर 'आह' बुलवाना भाव एवं रस के लिए ही संभव है।[९]

गायन विधा में साहित्य पक्ष रस-निष्पत्ति का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटक है। परंतु उसका अनुचित उपयोग रस-हानि का कारण बनता है। कई बार ऐसा पाया जाता है, कि बंदिश का साहित्य और राग की प्रकृति में मेल नहीं है, बंदिश के शब्द राग के अनुरूप नहीं है। उदाहरण स्वरूप, राग दरबारी कानड़ा अत्यंत धीर-गंभीर प्रकृति का एवं शांत, वीर, भक्ति, इत्यादि रस का पोषक है। इसमें एक प्रचलित बड़ा खयाल की बंदिश है, "मुबारकबादियाँ, ये शादियाँ..."। अब कहाँ राग दरबारी की गंभीर प्रकृति और कहाँ ये अति श्रृंगारिक साहित्य ?! ऐसे में प्रस्तुति में राग के भाव को लक्ष्य में लिया जाए, या बंदिश के भाव को ? ऐसी परिस्थिति में स्वाभावकि रूप से रस-हानि होती है।

गायन विधा के साहित्य को लेकर रस-हानि का अन्य एक कारण भी प्रस्तुतियों में पाया गया है। यह कारण है, शब्दों का अस्पष्ट उच्चारण। कई कलाकार शब्दों का उच्चारण इस प्रकार से करते हैं, कि अर्थ ही समझ नहीं आता। शास्त्रीय गायन में शब्दों का अर्ध-स्पष्ट उच्चारण करने की परंपरा-सी हो गई है। इसके संभवतः दो कारण हैं। एक तो यह, कि शब्दों को अति स्पष्ट रूप से बोलने पर सांगीतिक माधुर्य नष्ट हो जाने का भय है। इसलिए मृदु उच्चारण की परंपरा रही हो। परंतु मृदुता में स्पष्टता का ह्रास हो, वह इच्छनीय नहीं है। अन्य कारण यह माना जाता है, कि घरानेदार कलाकार बाहर के लोगों के समक्ष प्रस्तुति करते समय जान-बूझकर बंदिशों का अस्पष्ट उच्चारण किया करते थे, ताकि उनकी बंदिशें सुनकर कोई नकल न कर

सके, चूरा न सके। परंतु ये परंपरा वर्तमान समय की तर्कप्रिय, बुद्धिजीवी पीढ़ी को कतई स्वीकार्य नहीं है। आज के युवा रसिक का ध्यान अर्थ पर सबसे पहले जाता है। यदि वही स्पष्ट न हो पाए, तो प्रस्तुति उसे नीरस लगती है, रस-हानि मेहसूस होती है। कई बार शब्दों की अतिशय पुनरावृत्ति भी रस-हानि का कारण बनती है।[१०]

ठाकुर जयदेवसिंह का कथन है, कि १८ वीं शताब्दि (उत्तर मध्यकाल) से गायन की बंदिशों की दुर्दशा-सी हो गई है। प्रायः ऐसी धारणा बन गई है कलाकारों में, कि शास्त्रीय गायन में शब्दों की कोई एहमियत नहीं होती, जो कुछ है, वह स्वर ही है। इसमें संदेह नहीं है, कि प्रधान तत्त्व स्वर है। परंतु गायन और वादन में अंतर ही वही है, कि वादन में केवल स्वर है, जबकि गायन में स्वर और शब्द - साहित्य - का सुन्दर सामंजस्य है। स्वर को प्रेरणा मिलती है साहित्य से और साहित्य अनुप्राणित होता है स्वर से। यही गायन की विशेषता है। शब्द और उनके अर्थ पर आवश्यक लक्ष्य न देने के कारण कालक्रम से बंदिशों के शब्दों का अपभ्रंश होता रहा। कई बंदिशें ऐसी है, जिनका अर्थ पता चलना मुश्किल हो गया है। अर्थ समज में न आने पर कलाकार स्वयं उसका भाव नहीं समज पाएगा, तो अभिव्यक्ति क्या करेगा ? शब्द का बिना तात्पर्य के प्रयोग बेमतलब हो जाता है। जयदेवसिंह जी का मंतव्य है, कि शब्द के भाव और स्वर के गुंफन का सामंजस्य यदि गायन में नहीं है, तो वह तो एक प्रकार का वादन ही हो गया। क्योंकि गायन की यही विशेषता है, कि उसमें स्वर और लय के उपरांत शब्द - साहित्य - का सामंजस्य है, जो वादन में नहीं है। गायन की बंदिशों के साहित्य की विषय-वस्तु भी काफी सीमित मानते हुए उन्होंने इसे भी रस-निष्पत्ति की मर्यादा का एक कारण माना है।

शास्त्रीय संगीत में लय बढ़ाकर चरमसीमा तक ले जाना एक परंपरा-सी हो गई है। उसे कौशल्य-प्रदर्शन का एक मार्ग मान लिया गया है। परंतु प्रत्येक रस की पोषक लय निश्चित है, हरेक लय में सभी रस का अनुभव संभव नहीं है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भी प्रत्येक रस के लिए निश्चित लय का प्रयोग करना उपयुक्त बताया

है। बंदिश का भाव समझकर लय का उपयोग किया जाए, तभी रस-निर्मिति उत्कृष्टता तक पहुँच सकती है। यदि करुण रस-प्रधान बंदिश की बढ़त करते-करते लय द्रूत, अति द्रूत कर दी जाए, तो करुण रस कैसे अभिव्यक्त होगा ? करुण रस के लिए विलंबित, विरह-श्रुंगार या भक्ति रस के लिए विलंबित मध्य, श्रुंगार रस के लिए मध्य लय उपयुक्त है। परंतु अक्सर हरेक प्रस्तुति का समापन द्रूत या अति द्रूत से ही किया जाता है। इससे रस-हानि होती है। द्रूत या अति द्रूत में प्रस्तुति की क्षमता होना सराहनीय है, परंतु रंगमंच प्रस्तुति के दौरान कहीं पर भी उसका प्रयोग कर देना उचित नहीं है। रस-हानि के मूल्य पर तैयारी का प्रदर्शन सांगीतिक दृष्टि से कैसे उचित हो सकता है ? पंडित सुरेश तलवलकर जी का मंतव्य, उन्हीं के शब्दों में - "जवानी में तैयार बच्चे ऊपरी लय में जोशपूर्ण बजाते हैं, पर उससे बंदिश का तात्पर्य नष्ट हो जाता है।"[११] बंदिश का हार्द समझे बिना लय बढ़ाते जाना रस-निष्पत्ति में अवरोधक है। चमत्कृति क्षणिक आनंदाश्चर्य का अनुभव करवा सकती है, पर रसानुभूति भिन्न चीज़ है। उत्तेजना परितृप्ति का स्थान नहीं ले सकती।

तान तथा लयकारी हमारे शास्त्रीय संगीत के अनमोल तत्त्व हैं। परंतु उनका अत्याधिक प्रयोग रस-हानि का कारण बनता है। ठाकुर जयदेव सिंह के शब्दों में : "१३ वीं शताब्दी के बाद विद्या उन लोगों के हाथ में पहुँच गई, जो या तो अशिक्षित या अर्धशिक्षित थे। हमारे संगीत की दुर्दशा इस समय से दो प्रकार से हो गई। ध्रुपद की हत्या ताल की वेदी पर हो गई और खयाल की हत्या तान की वेदी पर हो गई। तान हो या ताल, साधन है, साध्य नहीं। आज हमारा संगीत चल रहा है, वो तो केवल 'ग्रामर' है। ध्रुपद में मारपीट चाल रही है और कुछ लोग खयाल में ऐसी तान लेते हैं, जैसे मालूम होता है, कि दो बिल्लियाँ आपस में लड़ रही हों या कोई मुर्गी हलाल कर रहा हो। प्रस्तुतीकरण और अभ्यास दोनों में अंतर है। यदि मंच पर भी हम वैसे ही कर रहे हैं जैसे अभ्यास के समय करते हैं, तब हम कला की सृष्टि नहीं कर सकते। मुखड़े के बाद दे तेरे की, दे तेरे की तानें मारना प्रारंभ कर देते हैं, तो जो

अरुचि हो रही है हमारे संगीत से तो इसके दोषी तो कलाकार ही हैं। कलाकार और कलाबाज में बड़ा अंतर है। आज कलाकार बहुत कम और कलाबाज अधिक हैं।" तात्पर्य यह है, कि बिना भाव के सिर्फ दिखावे के लिए लयकारी या जटिल तानों का प्रयोग रस-हानि का कारण ही बनता है।[१२]

वर्तमान समय में कुछ संगीतज्ञ विद्वत्ता का प्रदर्शन करने हेतु अप्रचलित राग, अति कठिन तत् कार, लयकारी, इत्यादि प्रस्तुत करते हैं। परंतु यदि उसमें सौन्दर्य कम और जटिलता अधिक आ जाए, तो जो संगीत का ज्ञाता है, वह तो फिर भी आनंद ले सकता है, परंतु आम रसिक-गण के लिए प्रस्तुति नीरस ही बन जाती है।

दिये गए, निश्चित किये गए समय में प्रस्तुति को समग्रता से पूर्ण न कर पाना भी रस-हानि का कारण बनता है।

गायन या वादन प्रस्तुति के दौरान चित्र-विचित्र मुँह बनाना, हाथ-पैर पटकना, अत्याधिक सिर घुमाना, नर्तन प्रस्तुति के दौरान साँस फूलना, समग्र मंच पर समान स्थान न ग्रहण कर पाना, इत्यादि छोटे-छोटे दोष भी रस-निष्पत्ति में बाधा-रूप बनते हैं।

रचना के भाव के अनुरूप ताल का चयन न हो, तो रसानुभूति में अवरोध आता है। नर्तन के साथ संगत में जो गायन-वादन हो रहा हो, उसमें भी यदि राग की पसंदगी अनुरूप न हो, तो रस-हानि होती है। अभिनय द्वारा संध्या दर्शाई जाती हो और संगत में आहिर भैरव बजता हो, तो वह निश्चितरूप से अपरिपूर्ण लगेगा।

कलाकार जो अभिव्यक्त करता है, उसीकी अनुभूति रसिक को न हो, वह उचित नहीं है। यदि कलाकार द्वारा प्रस्तुत श्रृंगार में रसिक को वीर या हास्य रस की अनुभूति हो, तो वह रसानुभूति न होकर मिथ्या भास है।[१३]

रस-हानि का मुख्य कारण रस-निष्पत्ति की शिक्षा का अभाव है। नर्तन विधा में यह बात बहुत कम प्रमाण में लागू हो सकती है, परंतु गायन-वादन में यह त्रुटि स्पष्टरूप से दिखाई देती है। प्रचलित शिक्षा-पद्धति में रस और भाव के प्रति सर्वथा उदासीनता पाई जाती है। स्वर-लय-राग-ताल की शिक्षा के समय उनका रस-तत्त्व से क्या संबंध है, वही समजाया नहीं जाता। इन तत्त्वों से कैसे रस-निष्पत्ति की जाए, वही नहीं सीखाया जाता। केवल व्याकरण सीखाया जाता है। आचार्य कैलाश चन्द्रदेव बृहस्पति के शब्दों में : "उत्तर भारतीय एवं दाक्षिणात्य दोनों ही पद्धतियों में स्वरविधि की जो शिक्षा प्रचलित है, उसमें रस और भाव के प्रति सर्वथा उदासीनता है। यह नहीं बताया जाता कि किस-किस स्वर के प्रयोग से किस-किस भाव की अभिव्यक्ति होती है, न इस संबंध में कुछ निर्देश है, कि किस-किस रस में किस-किस राग का विनियोग है। राग का मेल या ठाठ, स्वरों का रागव्यंजक सन्निवेश और प्रयोग का समय ही राग-शिक्षा को पूर्ण कर देता है। गायक किस राग के द्वारा किस भाव की अभिव्यक्ति और श्रोताओं के हृदय में किस भाव का उद्रेक कर सकता है, इस संबंध में आधुनिक ठाठवादी एवं उनके उपजीव्य मेलाचार्य सर्वथा मौन का अवलम्बन किए हुए हैं।" तात्पर्य यही है, कि रस-शिक्षा का अभाव रस-हानि का कारण बनता है।[१४]

कई बुज़ुर्गों का मत है, कि आधुनिक समय में विद्यार्थी में लगन, धैर्य का अभाव देखने को मिलता है। जो नकारात्मक पहलू है।

मूलतः भारतीय शास्त्रीय संगीत में निश्चित रचना - fixation - का प्रमाण बहुत कम है और उपज अंग से उसका विस्तार करना ही इसकी खासियत है, विशेषता है। उपज अंग से विस्तृत प्रस्तुति करने में समय चाहिए, वह जल्दबाज़ी में संभव नहीं। वर्तमान कार्यक्रमों में कई बार श्रोताओं की अनुकूलता की दृष्टि से, तो कई बार कलाकारों की अधिकता के कारण प्रस्तुति के लिए अत्यंत कम समय दिया जाता है। अत्याधिक कम समय में राग का माहौल खड़ा करके उत्कृष्ट रस-निष्पत्ति करना कठिन हो जाता है।[१५]

पारंपारिक रूप से भारतीय शास्त्रीय संगीत उपज-आधारित संगीत रहा है। कलाकार सिर्फ राग और बंदिश तय करके प्रस्तुति हेतु मंचस्थ होते हैं, उन्हें स्वयं नहीं पता होता, कि वे क्या-क्या प्रस्तुत करेंगें, राग और ताल के दायरे में रहकर तालीम एवं अंतःस्फुरणा के आधार पर वे प्रस्तुति करते हैं। स्फुरणा का आनंद उन्हें स्वयं को होता है, जो वे प्रस्तुति के माध्यम से रसिकजनों के साथ बाँटते हैं। मगर वर्तमान समय में कई कलाकार ऐसे हैं, जो पूरी प्रस्तुति पूर्व-निर्धारित करके मंचस्थ होते हैं। उन्होंने एक ही format - फर्मा - इतनी बार रियाज़ किया होता है, कि मंच पर प्रस्तुति बिलकुल यांत्रिक हो जाती है। न कलाकार को रसानुभूति होती है, न ही रसिकगण को।[१६]

उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में रागों का समय निश्चित किया गया है। राग के प्रभाव के अनुसार उसे दिन के २४ घंटों में निश्चित स्थान दिया गया है, जो रस-निष्पत्ति के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक समय में कई कलाकार राग समय-सिद्धांत को अधिक महत्त्व न देते हुए उसका अनुसरण करना अनिवार्य नहीं मानते। कोई भी समय पर कोई भी राग प्रस्तुत करते हैं। यह राग की वास्तविक अभिव्यक्ति में बाधारूप बनकर रस-निष्पत्ति पर नकारात्मक असर करता है।

संगतकार के साथ सायुज्य एवं सामंजस्य प्रस्तुति की उत्कृष्टता के लिए अनिवार्य है। कुछ समय पूर्व रियाज़ में भी संगतकार की उपस्थिति हुआ करती थी, जिसका स्थान आज यंत्रों ने ले लिया है। प्रस्तुति के समय कई बार ऐसे संगतकार आते हैं, जिनके साथ पहले कभी मुलाकात तक हुई नहीं होती। ऐसी परिस्थिति में मुख्य कलाकार का संगतकार से सुन्दर ताल-मेल हो ही जाए, ऐसा हमेशा संभव नहीं होता। दोनों की कोशिश रहती है, परंतु कई बार योग्य मेल न होने पर प्रस्तुति का सौन्दर्य निम्न स्तरीय रह जाता है। परिणाम स्वरूप श्रोताओं का रसानंद कम हो जाता है।

वर्तमान समय में जो कार्यक्रम आयोजित होते हैं, उनमें विभिन्न तरह की राजनीति होती है। कलाकारों के बीच परस्पर कार्यक्रम के लिए बुलाना, शुल्क, इत्यादि विभिन्न पहलुओं को लेकर समजोते हुए होते हैं। ऐसे में आयोजक और कलाकार दोनों की मानसिकता निजी लाभ-केन्द्रित हो जाती है। संगीत के प्रति जो समर्पण-भाव होना चाहिए, कभी-कभी वह नहीं रह पाता, परिणाम स्वरूप प्रस्तुति नीरस लगती है।

कभी-कभी आयोजक द्वारा समग्र कार्यक्रम का आयोजन ऐसा नहीं हो पाता, जिसमें कला और कलाकार को प्रोत्साहन मिल पाए। उसमें कलाकार के प्रवासन से लेकर रंगमंच-व्यवस्था तक का सब कुछ समाविष्ट है। Overall management - व्यवस्थापन - कला तथा कलाकार की आवश्यकता समझकर न होने पर उसका विपरीत असर कलाकार की प्रस्तुति पर होता ही है।

कलाकार का शारीरिक, मानसिक एवं भावनागत स्वास्थ्य रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य है। उसमें से कुछ भी अस्वस्थ होने पर प्रस्तुति से होने वाली रस-निष्पत्ति पर नकारात्मक असर होने की पूरी संभावना है।

कलाकार का अपने रसिक-गण की अपेक्षा, स्तर समझ न पाना रस-हानि का प्रबल कारण बन सकता है। रसिक को क्या चाहिए, वह समझकर प्रस्तुति नहीं करने पर कितनी भी अच्छी क्यों न हो, उन्हें आनंद नहीं आता।

प्रस्तुति को उत्कृष्ट बनाने में कलाकार के उपरांत कुछ योगदान श्रोता-दर्शक वर्ग की ओर से भी होता है। उनका ध्यान केन्द्रित होना, शांति बनाए रखना, कलाकार के प्रति सन्मान बनाए रखना, इत्यादि उनकी जिम्मेवारी है। उसमें त्रुटि रहने पर कलाकार का मान-भंग, ध्यान-भंग होता है, जो उसे प्रस्तुति में लीन होने से रोकता है। ऐसी परिस्थिति में रस-निष्पत्ति में अवरोध आता है।

कला की शरण में लोग आनंदानुभूति, रस-प्राप्ति हेतु ही आते हैं। यदि यह हेतु की परिपूर्ति न हो पाए, तो कला का तात्पर्य ही नष्ट हो जाता है। रस-हानि का प्रमाण अत्याधिक बढ़ जाने पर रसिक का कला से ही मन ऊब जाता है। उसे कला ही नीरस लगने लगती है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के साथ भी यही हुआ है। वर्तमान समय में शास्त्रीय संगीत का चाहक वर्ग अन्य संगीत प्रकारों की तुलना में बहुत कम है। लोग अक्सर उसे जटिल, कठिन, अरुचिकर, कंटालाप्रद, इत्यादि मान लेते हैं। “शास्त्रीय संगीत विद्वानों का संगीत है।”, “शास्त्रीय संगीत हमारे बस की बात नहीं।”, “शास्त्रीय संगीत वृद्धों के लिए है।” इत्यादि कई नकारात्मक विचार आम-जनता में प्रचलित हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत का अद्वितीय और अमूल्य सौन्दर्य रसिक तक पहुँचाकर उन्हें इससे लाभान्वित करना, समाज में भारतीय शास्त्रीय संगीत का स्थान कायम करना अत्यंत आवश्यक है। उसके लिए रस-हानि के उपरोक्त कारणों एवं उनके संभवित हल पर रचनात्मक विचार-विमर्श करना और जन-रुचि बनाए रखना अनिवार्य है।

संदर्भ

१ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. १६-१७, १७७।

२ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ; Rao, Krishna P. (1923). The psychology of music, Enlarged edition. Mysore education service, Bangalore, p144, वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५३९।

३ गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). भरतनाट्यम्. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ३७७-३८७।

४ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). कथक नृत्य अने रस. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १५७-१६९; गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). भरतनाट्यम्. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. १९९-२०७।

५ (२००१). संगीत - रस, परंपरा और विचार. संपादन चौरसिया, ओमप्रकाश. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ३५-३७।

६ वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५२८।

७ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १९१-१९५, २६९-२७२, २८२।

८ Sharma, Premlata. (2000). Indian aesthetics and musicology. Editor Sharma U. Amnaya-Prakasana, Varanasi, P. 29.

९ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. १७७-१७८; वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५६६; राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). कथक नृत्य अने रस. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १५२।

१० अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. १७७-१७८।

११ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020.

१२ (२००१). संगीत - रस, परंपरा और विचार. संपादन चौरसिया, ओमप्रकाश. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ४३-४५।

१३ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११०,११३।

१४ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. ३०।

१५ संत विश्वास वि., कलाकार एवं अध्यापक, फेकल्टी ऑफ परफ़ॉर्मींग आर्ट्स, धि महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, दिनांक : १९/३/२०१९।

१६ संत विजयकुमार गं., वरिष्ठ कलाकार, बड़ौदा, दिनांक : २१/१०/२०१८।